अनुसन्धान प्रवाह Anusandhan Pravah
(An Open Access, Peer Reviewed, Multidiciplinary, Bilingual, E-Journal)
Vol.1, Issue 1, Year 2024, pp. 79-97
URL : https://journal.sskhannagirlsdc.ac.in/

भारतीय ज्ञान-परम्परा और उसकी विश्वदृष्टि

प्रो0 अम्बिकादत्त शर्मा
दर्शन शास्त्र विभाग, डा. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सारांश:

आधुनिक सभ्यता ने आज एक बलीयसी विश्व-सभ्यता का रूप धारण कर लिया है। यहूदी-ख्रिस्तीय ज्ञान-परम्परा और पश्चिमी विज्ञान तथा तकनीकी के आपसी गठबंधन से बनी और विकसित ज्ञान-परम्परा की यह आवश्यक साभ्यतिक निर्मिति है। जीवन और जगत् के दिव्य और दैवीय लंगरों को काट कर विश्व के उत्तरोत्तर लौकिकीकरण और निर्दैवीकरण की यह सार्वभौम कार्ययोजना है। समूची दुनिया को इसके माध्यम से नेतृत्व मिले और और पूरी मानव जाति को इस एकरेखीय जीवन शैली में नियोजित करना इस कार्ययोजना का अघोषित लक्ष्य है। इस कार्ययोजना में विगत दो सहस्त्राब्दियों तक एक दूसरे की हमवजन बनी रहीं दुनिया की तमाम संस्कृति और सभ्यताएँ इस तरह अनुप्रविष्ट और यहाँ तक कि अन्तर्भुक्त होती जा रही हैं जैसे 'ब्लैक होल' के सम्पर्क में आने वाली हर एक वस्तुएँ अपनी इयत्ता को समाप्त कर उसमें विलीन हो जाया करती हैं।

Article Publication:

Published online on: 30/12/2024

Corresponding Author:

प्रो0 अम्बिकादत्त शर्मा
प्रोफेसर,
दर्शन शास्त्र विभाग, डा. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

Email: sharma.ambikadatta@gmail.com

©Sadanlal Sanwaldas Khanna Mahila Mahavidyalay

Scan For Paper

सम्प्रति पूरी दुनिया में देशजता और अपनी-अपनी ज्ञान-परम्पराओं से जुड़ने की जो आत्मचेतना दिखाई पड़ रही है वह वास्तव में आधुनिक सभ्यता के वर्चस्वशाली सर्वग्रासी पूर्वपक्ष की प्रतिक्रिया में उत्पन्न एक प्रतिचेतना ही है।

आजकल भारत में भी यह प्रतिचेतना अतीत की उपलब्धियों और भारतीय ज्ञान-परम्परा के अतीत-संग्राही महिमा-मंडन में बड़े जोर-शोर से क्रियाशील हो उठी है। यह बात अलग है कि इस सजगता के विस्फार में ज्ञान-निष्ठा कम और राजनीतिक-निष्ठा अधिक है। जब ज्ञान-निष्ठा पर राजनीतिक-निष्ठा हावी हो जाती है तो ज्ञान-परम्पराओं के पुनराविष्कार और उसके माध्यम से साझी सामुदायिक अस्मिता के अंगीकार जैसी पवित्र पहल भी पहचान की राजनीति की शिकार हो जाती है। ऐसे में पहचान आधारित ज्ञान की राजनीति को दरकिनार करते हुए औपनिवेशिक आवरणों से आवृत भारतीय ज्ञान-परम्परा के सर्वसमावेशी, जीवन्त और संवर्द्धनशील स्वरूप को अनावृत करने की आज महती आवश्यकता है। इसके लिए भारतीय ज्ञान-परम्परा की चयापचयी प्रणाली को समझना आवश्यक है ताकि उसकी ऋजु-कुटिल गतिशीलता और गतिरोध की अभियांत्रिकी को भलि-भाँति समझा जा सके। यह परम्परा और नये वर्तमान में जो भविष्य गुंफित रहता है, उसके बीच के मौलिक अचेतन सम्बन्ध को सचेत स्वातंत्र्य और सर्जना का साधन बना सकने की अभियांत्रिकी होती है। इसमें परम्परा स्वतःगृहीत होती है, पर उसकी अश्मीभूत जड़ता को तरल करके, उसके कल-पुरजे खोल कर उसे विघटित करके भी, उसे आत्मसात् करने योग्य परिष्कृत रूप देकर वर्तमान की चेतना के आलोक में प्राणवान् बनाया जाता है। ज्ञान-परम्परा की इस गतिशीलता में विस्तार, संकोच, संक्षेपण, कलिवर्ज्य, विरोध, संस्करण, स्वीकृति और सर्जना की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती हैं और अंततः यह सबकुछ भाषिक वाङ्मय में मूर्तिमान होती है।

उपन्यास

किसी भी सभ्यता और संस्कृति के पुष्पित और पल्लवित होने तथा उसे कायम बने रहने के पीछे ज्ञान-परम्परा की महती भूमिका होती है। वास्तव में एक विशेष प्रकार की ज्ञान-परम्परा ही एक विशेष प्रकार की सभ्यता और संस्कृति की धारक होती है। सभ्यता और संस्कृतियों का अधिष्ठान भौगोलिक नहीं अपितु ज्ञान-परम्परा ही होती है। यह बात अलग है कि कोई भी सभ्यता और संस्कृति एक भौगोलिक परिवेश में ही मूर्त रूप ग्रहण करती है। किसी भी ज्ञान-परम्परा का भौगोलिक परिवेश में अवतरण और मानवीय अभीप्साओं की अनुरूपता में उसका विकास एकरेखीय रूप में न होकर

बहुआयामी रूप से होता है। इसीलिए सभ्यता और संस्कृतियों का रूपायन भी बहुआयामी होता है। हाँ, किसी सभ्यता और संस्कृति की पहचान इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस प्रकार के ज्ञान का मानकीकरण और आदर्शीकरण करती है। आदर्शीकृत ज्ञान ही वास्तव में पुरुषार्थ-साधना में फलित होता है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति भी दुनिया की प्रचीनतम, समृद्धतम और अद्यतन सभ्यता और संस्कृति है। इसकी निरन्तरता का शानी तो दुनिया की और कोई सभ्यता और संस्कृति है ही नहीं। अतः यह तो स्वाभाविक है कि इसके अपने सुदीर्घ जीवनकाल में उन सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कला और कौशलपरक अनुशासनों का न्यूनाधिक विकास हुआ ही होगा जो इसे अब तक तमाम उतार चढ़ाओं के बावजूद धारण किये हुए हैं। वास्तव में जब हम भारतीय ज्ञान-परम्परा की बात करते हैं तो उसका आशय उन सभी प्रकार के ज्ञानात्मक उपक्रमों से है जो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की गतिशीलता को एक विशेष प्रकार की विश्वदृष्टि की ओर उन्मुख किये रही है। सम्भावना के बतौर ही सही, लेकिन यह बात सोची जा सकती है कि सिन्धुघाटी की अतिनगरीय सभ्यता के विनाश का प्रतिस्मरण हमारे वैदिक ऋषियों को रहा होगा। सम्भवतः इसी कारण गंगा के समतल मैदानों और समशीतोष्ण जलवायु वाले परिक्षेत्र में ग्राम्य सभ्यता और आरण्य जीवन शैली के निर्माण के लिए एक विषेश प्रकार की अन्तर्दृष्टि और ज्ञान का मानकीकरण और आदर्शीकरण उन ऋषियों ने किया होगा। वास्तव में वह विश्व की नैतिक व्यवस्था की नियामक ऋतानुगामी अन्तर्दृष्टि थी जो भारतीय ज्ञान-परम्परा में ज्ञान के विनिर्माण और मानकीकरण का नीति निर्देशक तत्व बनी। भारतीय सभ्यता का उद्भव, विकास तथा पोषण नगरीय चहारदीवारियों के भीतर नहीं हुआ है। नगरीय वातावरण में जो सभ्यता पनपती है उसमें मानव और प्रकृति के मध्य एक दूरी पर आधारित विचारों का प्रादुर्भाव संभावित होता है। विकास और विचार के मध्य एक पार्थक्य पर विशेष बल दिया जाता है। ऐसे वातावरण में उपजी सभ्यता मानव और मानव में, स्वराष्ट्र और परराष्ट्र में तथा मानव और प्रकृति में अभेद के सूत्र को नहीं देख पाती है। भारतीय संस्कृति का जन्म, पोषण और विकास वनीय वातावरण में हुआ है। वनीय वातावरण ने हमारी सभ्यता के विचार, व्यवहार और आचार सभी को प्रभावित किया है। ऐसी सभ्यता मानव का मानव के साथ, मानव की जीवन और जगत् के साथ चेतना के विस्तार को किसी सीमा में नहीं बाँधती है। ऐसी सभ्यता मानव का मानव के साथ, मानव का जीवन-जगत् के साथ, मानव का प्रकृति के साथ तथा मानव का विश्वोतीर्ण सत्ता के साथ अपने

अस्तित्व का जुड़ाव पाती है। केनोपनिषद् में ब्रह्म को 'वन' नाम से उपासना करने का उपदेश दिया गया है। इस प्रकार से उसकी उपासना करने पर वह सभी भूतों का प्रिय हो जाता है (केनोपनिषद्, खण्ड 4, 6)। इसलिए, वन पोषित पुरातन ऋषियों का मुख्य ध्येय मानवीय चेतना और वैश्विक चेतना के मध्य संगति के सूत्र का साक्षात्कार करना था। इसी अन्तर्दृष्टि और ज्ञान का अनुवाद जिस सभ्यता और संस्कृति में हुआ है, वही भारतीय सभ्यता और संस्कृति है। वस्तुतः जिसे हम भारतीय ज्ञान-परम्परा कहते हैं उसकी यही संक्षिप्त प्रस्तावना है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का भौगोलिक मानचित्र

भारतीय ज्ञान-परम्परा को भूगोलवाची अर्थ में हिन्दू ज्ञान-परम्परा भी कहते हैं। यह सिन्धु नदी के उसपार के परिक्षेत्र में रहने वाले निवासियों की ज्ञान-परम्परा और उनकी भौगोलिक एकता की वाचक ज्ञान-परम्परा है। यह बात अलग है कि हिन्दू शब्द ईरानियों द्वारा सिन्धु शब्द के अपभ्रंश उच्चारण के कारण प्रचलन में आया हुआ एक रूढ़ लेकिन स्वीकृत पद है। इससे जिस भूभाग को संकेतित किया जाता है उसे ही हिन्दुस्तान कहते हैं। इसका प्राचीन नाम आर्यावर्त भी था, लेकिन दोनों के भौगोलिक विस्तार में थोड़ा ही सही, अन्तर अवश्य है। आर्यावर्त पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक और हिमालय से लेकर विन्ध्याचल तक के परिक्षेत्र को कहा जाता है, परन्तु हिन्दुस्तान की दक्षिणी सीमा विंध्यपर्वत से आगे कन्याकुमारी तक जाती है। इस व्यापक भूभाग की सभ्यता और संस्कृति के पीछे जिस ज्ञान-परम्परा की सक्रिय भूमिका रही है उसे ही भारतीय ज्ञान-परम्परा से अभिहित किया जाता है। यह बात अलग है कि किसी भी ज्ञान-परम्परा के भौगोलिक मानचित्र की कोई स्थिर अवधारणा नहीं होती है। उसमें विस्तार और संकोच दोनों ही होते रहते हैं। ज्ञान-परम्परा के भौगोलिक मानचित्र में भाषायी भूगोल, सांस्कृतिक भूगोल और राजनीतिक भूगोल भी सम्मिलित हुआ करते हैं। इसी कारण किसी भी ज्ञान-परम्परा के भौगोलिक मानचित्र का विचार उसकी संक्रान्तिक सीमाओं के आधार पर भी की जाती है। ज्ञान-परम्परा की संक्रान्तिक सीमा अकसर भाषायी, सांस्कृतिक और राजनीतिक भूगोल का अतिक्रमण भी करती है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान-परम्परा की संक्रान्तिक सीमा को पश्चिम में मध्यपूर्व से लेकर पूर्व में सुदूर पूर्व तक और उत्तर में हिमालय के पार से दक्षिण में हिन्दमहासागर पर्यन्त विस्तृत माना जा सकता है। पं. मधुसूदन ओझा ने अपनी कृति 'इन्द्रविजयः' में भारत वर्ष की संक्रान्तिक सीमा को वैदिक-पौराणिक प्रमाणों के

आधार पर पूर्वी चायना समुद्र से लेकर पश्चिम में प्रशान्त महासागर (रेड समुद्र) पर्यन्त माना है। दक्षिण में इसका विस्तार हिन्द महासागर के मध्य विषुवत रेखा और उत्तर में हिमालय पर्यन्त निर्धारित किया है (एतद्भारतवर्ष रक्तसमुद्रान्तमस्ति पश्चिमतः। पीतसमुद्राष्लिष्टप्रषान्तसागरपरं प्राच्याम्।। याम्ये समुद्रमध्ये विषुवान्तं तत् यथोदीच्याम्। हिमवत्पर्वतपरमं प्रवदीन्तीत्थं चतुःसीमम्।।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का सनातन अर्थ-सन्दर्भ

भारतीय ज्ञान-परम्परा के उपर्युक्त भूगोलवाची अर्थ से भिन्न उसके स्वरूप को बताने वाला जो दूसरा शब्द है वह है - सनातन ज्ञान-परम्परा। साधारण तौर पर इसके सनातन होने का अर्थ इसकी प्राचीनता से लिया जाता है। यह सही भी है, क्योंकि विश्व के ज्ञात इतिहास में उसके प्राचीन और अद्यतन कोई दूसरी ज्ञान-परम्परा नहीं रही है। पुनः इसे सनातन इसलिए भी कहा जाता है कि इसकी शुरूआत इतिहास के किसी निश्चित काल-खण्ड से नहीं हुई है जबकि विश्व की अन्य प्रमुख ज्ञान-परम्पराओं का ऐतिहासिक प्रारम्भ सुविदित है। परन्तु भारतीय ज्ञान-परम्परा को सनातन कहे जाने के कालवाची अर्थों से भिन्न उसका एक गहरा अर्थ भी है। वह यह कि भारतीय ज्ञान-परम्परा का अनुवाद कर्त्तव्या कर्तव्य के जिन विधि-निषेधों की सांस्कृतिक अथवा धार्मिक व्यवस्था में हुआ है वह किसी शास्ता अथवा देवदूतों के माध्यम से प्राप्त ईश्वरीय आदेश अथवा परामर्श नहीं बल्कि स्वतंत्र मानवीय विवेक की सार्वभौमिक गवेशणाएँ हैं और जिनका निर्धारण या तो संसार के वास्तविक स्वरूप और उसे धारण करने वाले नियमों (ऋत्) या फिर मनुष्य की अन्तरात्मा जहाँ भूतमात्र की आत्मौपम्यता का स्वाभाविक विवेक जागता है; को सन्दर्भ बनाकर किया जाता है। वस्तुतः औचित्य अथवा श्रेय के निर्धारण के यही दो मौलिक प्रतिमान हैं। इसलिए भारतीय ज्ञान-परम्परा धार्मिक पोथियों में सदा-सर्वदा के लिए निबद्ध कोई अनुलंध्य आदेश नहीं बल्कि संसार की वास्तविकता और मनुष्य की अन्तरात्मा के बीच आदर्शतम ताल-मेल के साथ जीवन का सर्वोत्तम विनियोग है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा की आत्म-प्रतिमा

जगत् के वास्तविक स्वरूप को संदर्ष बनाकर जब किसी ज्ञान-परम्परा का अनुवाद जीवन-लोक में होता है तो प्रवृत्तमूलक लोकसिद्धि उसका जीवनादर्श बनता है। उसी तरह अन्तरात्मा को संदर्श बनाकर जब ज्ञान-परम्परा जीवन-

लोक में अनूदित होती है तो निवृत्तमूलक स्वरूपसिद्धि उसका प्रमुख जीवनादर्श बनता है। भारतीय ज्ञान-परम्परा की आत्मप्रतिमा इन्हीं दोनों प्रकार के जीवनादर्शो के सुन्दर सहभाव से निर्मित हुई है। इसलिए इसके अन्तर्गत विकसित ज्ञान-विज्ञान की समस्त शाखायें लोकसिद्धि और स्वरूपसिद्धि के जीवनादर्श को ही अपने-अपने तरीकों से पुष्ठ करती हैं। ऐसा माना जाता है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा में लोकभावना, जगद्भावना की प्रवृत्तमूलक प्रधानता आर्य परम्परा से आई है और लोकजीवन का अतिक्रमण करते हुए स्वरूपसिद्ध (मोक्ष) को ही श्रेय समझने का विचार द्राविड़ परम्परा की देन है। इतिहास के गर्भ में छिपी इस बात को लेकर कितना भी विवाद क्यों न हो, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा की आत्मप्रतिमा लोकसिद्धि (धर्म) और स्वरूपसिद्धि (मोक्ष) के आदर्ष से ही लक्षित होती है। इन दोनों जीवनादर्शों को भारतीय ज्ञान-परम्परा का मौलिक प्रतीक कहा जाना अधिक उचित है। दूसरे शब्दों में अभ्युदयकारक धर्म और निःश्रेयश कारक मोक्ष से ही भारतीय ज्ञान-परम्परा की आत्मप्रतिमा मूलगामी रूप से परिभाषित होती है। इस परिभाषा में अभ्युदय का अर्थ लोकसिद्धि और निःश्रेयश का अर्थ स्वरूपसिद्धि सुतरां स्पष्ट है। महाभारतकार ने भी ‘‘धर्मार्थकामोक्षानां इतिहास समन्वितम्.... कहते हुए भारतीय ज्ञान-परम्परा के इसी टेलियोलॉजी को संकेतित किया है। भारतीय ज्ञान-परम्परा की आत्मप्रतिमा के उपर्युक्त दोनों मूलभूत प्रतीकों ने सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय के काव्यों, कलाओं, धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य और पुराकथाओं के साथ-साथ वैयक्तिक एवं सामाजिक आचरण के विधानों को किस तरह प्रभावित और अनुप्राणित किया है, यह खुली आँख से देखने की चीज है। यहाँ तक कि ‘कामशास्त्र’ भी इसका अपवाद नहीं है। इसने भारतीय सभ्यता और संस्कृति तथा उसकी धार्मिक चेतना को इतना समन्वयात्मक चरित्र और आत्मसीमन की क्षमता प्रदान किया है कि प्रश्न और प्रतिप्रश्न, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों ही इसके अंगभूत हो जाते हैं। विरोधों और विचित्रताओं को आत्मसात् कर लेने की इसमें अद्भुत क्षमता है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा का वाङ्मय संस्थान

भारतीय ज्ञान-परम्परा कोरे आस्थाओं की संहिता न होकर जीवन और जगत् के प्रति आत्मचेतन विवेक से उपजा हुआ एक औचित्यविधान है। इसके पार्श्व में जो आत्मचेतन विवेक की सुदीर्घ परम्परा रही है उसी की अभिव्यक्ति ऋषियों,

मुनियों और व्यास परम्परा के माध्यम से श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, दर्शन, नीति और महाकाव्यों के रूप में वाग्विग्रहित हुई है। इन सबों का सम्मिलित रूप ही भारतीय ज्ञान-परम्परा का लिपिबद्ध वैचारिक संस्थान है।

श्रुति का अर्थ वेद है जो ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतीय ज्ञान-परम्परा के आद्य स्त्रोत के रूप में वेदों को अपौरुषेय और पौरुषेय दोनों माना जाता है, लेकिन इससे उनकी सर्वोपरि प्रामाणिकता पर कोई आँच नहीं आती। यद्यपि वैदिक सूक्तों एवं मंत्रों के उपस्थापक ऋषि ही होते हैं लेकिन उन्हें मंत्रकर्त्ता नहीं अपितु मंत्रद्रष्टा (ऋषियोः मंत्र द्रष्टारः) कहा गया है। प्रत्येक वेद की बहुत सी शाखायें हैं जिनमें कुछ प्राप्त हैं और शेष अन्य लुप्त हो गये हैं। मुख्य रूप से वेदों के चार भाग होते हैं जिन्हें मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् कहा जाता है। स्मृतियों की संख्या भी चार मानी जाती है। इन्हें मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, शंख स्मृति और पराशर स्मृति के नाम से जाना जाता है। शास्त्र छः हैं जो वास्तव में विशिष्ट विद्यायें हैं। इन्हें शिक्षा, कल्प, निरूक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष के रूप में परिगणित किया गया है। वेदांग इनका अपर नाम है। देखने लायक बात यह है कि छः वेदांगों में चार (शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त, छन्द) प्रत्यक्ष रूप से भाषा विषयक हैं। शिक्षा भाषा को उसके ध्वन्यात्मक रूप में विचारती है। निरूक्त उसे अर्थविज्ञान के परिवेश में देखता है। व्याकरण भाषा को संरचना के रूप में देखता है और छन्द उसे एक लय के रूप में देखता है। शेष दो शास्त्र कल्प और ज्योतिष क्रमशः धर्म विज्ञान और खगोल विज्ञान और गणित विद्या से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में उपवेदों का भी उल्लेख आता है। वेदांगों का उल्लेख तो उत्तरवैदिक साहित्य में मिलता है परन्तु उपवेदों की चर्चा परवर्ती प्रतीत होती है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि जो विद्यायें उपवेदों में निहित हैं वे वैदिक युग में नहीं थीं। आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, धनुर्वेद और दण्डनीति ये सभी विद्यायें अपनी परम्परा का मूल वैदिक ऋषियों से ही बताती है। पुराण अठारह हैं जिनमें इतिहास, कथा, वंशावली और दृष्टान्तों - आख्यानों के माध्यम से वैदिक अन्तर्दृष्टियों का लोकजीवन में संस्थानीकरण किया गया है। पुराण एक विद्या है जो वेद के समान ही अनादि है। वेद के दो भाग माने गए हैं - पुराण वेद व यज्ञ वेद। आज सामान्यतया यज्ञवेद को ही वेद माना जाता है तथा पुराण वेद को केवल 'पुराण' शब्द से ही अभिहित किया जाता है किन्तु याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों ने विद्याओं की गणना में पुराण-विद्या को प्रथम स्थान देकर इसका शीर्ष स्थानीय महत्व स्वीकारा है -

पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्राङ्गमिश्रिताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

पुराण नाम ही इसका सबसे पुरानापन सिद्ध करता है। पुराण प्राचीन काल की कथाओं, घटनाओं के बोधक ग्रंथ हैं। यह शब्द ''इतिहास-पुराण'' इस द्वन्द्व समास के रूप में भी व्यवहृत हुआ है, इससे भी वही अर्थ द्योतित होता है। सायणाचार्य के मत से - 'पुराण वह है जो मनुष्य की आदिम दशा का वर्णन करता है।' यह पुराण-साहित्य अत्यन्त विशाल है जो मुख्यतः दो श्रेणियों में विभक्त है - पुराण और उपपुराण। पुराणों की संख्या 18 मानी गई है और इतने ही उपपुराण भी कहे गए हैं, यद्यपि कहीं-कहीं उपपुराणों की संख्या अधिक भी बताई गई है। 18 महापुराणों के नाम इस प्रकार हैं - 1. ब्रह्म पुराण, 2. पद्म पुराण, 3. विष्णु पुराण, 4. वायु पुराण (या शिव पुराण), 5. भागवत पुराण, 6. नारद पुराण, 7. मार्कण्डेय पुराण, 8. अग्नि पुराण, 9. भविष्य पुराण, 10. ब्रह्मवैवर्त पुराण, 11. लिंग पुराण, 12. वराह पुराण, 13. स्कन्द पुराण, 14. वामन पुराण, 15. कूर्म पुराण, 16. मत्स्य पुराण, 17. गरुड़ पुराण तथा 18. ब्रह्माण्ड पुराण। इसी प्रकार गरुड़ पुराण (अ. 227) में उल्लिखित 18 उपपुराणों के नाम ये हैं - 1. आदि पुराण, 2. नरसिंह पुराण, 3. स्कन्द पुराण, 4. शिवधर्म पुराण, 5. दुर्वासा पुराण, 6. नारद पुराण, 7. कपिल पुराण, 8. वामन पुराण, 9. औशनस पुराण, 10. ब्रह्माण्ड पुराण, 11. कालिका पुराण, 12. वारुण पुराण, 13. माहेश्वर पुराण, 14. साम्ब पुराण, 15. सौर पुराण, 16. पाराशर पुराण, 17. मारीच पुराण एवं 18. भास्कर पुराण। जबकि ''वृहद् विवेक'' (3/37.39) में उपपुराणों के नाम इस प्रकार बताये गये हैं - 1. सनत्कुमार पुराण, 2. बृहन्नारदीय पुराण, 3. आदित्य पुराण, 4. मानव पुराण, 5. नन्दिकेष्वर पुराण, 6. कौर्म पुराण, 7. भागवत पुराण, 8. वषिष्ठ पुराण, 9. भार्गव पुराण, 10. मुद्गल पुराण, 11. कल्कि पुराण, 12. देवी पुराण, 13. महाभागवत पुराण 14. वृहद्धर्म पुराण, 15. परानन्द पुराण, 16. पशुपति पुराण, 17. बह्नि पुराण और 18. हरिवंश पुराण। उपपुराणों की कतिपय अन्य सूचियाँ भी प्राप्त होती हैं। इस तरह जहाँ महापुराणों की संख्या और नामों के विशय में प्रायः मतैक्य है वहाँ उपपुराणों के विषय में उतना ही मतभेद है। इन पुराणों-उपपुराणों को शैव, ब्राह्म, शाक्त, वैष्णव, सौर आदि श्रेणियों में भी बाँटा गया है, जैसे - वैष्णव पुराणों के अन्तर्गत विष्णु, विष्णु धर्म, विष्णु-धर्मोत्तर, नरसिंह, क्रियायोग सार, कल्कि

तथा आदि पुराण, सौर पुराणों के अन्तर्गत साम्ब, सूर्य, सौरधर्म तथा सौरधर्मोत्तर पुराण आदि, शाक्त पुराणों के अन्तर्गत देवी, कालिका, महाभागवत, नन्दा, सारदा, वृहन्नन्दिकेष्वर आदि पुराणों की गणना की जाती है। पुराण का अपर नाम ''प´च-लक्षण'' भी है, जो इन समस्त पुराणों में समान रूप से वर्णित पाँच विषयों की ओर संकेतित करता है। ये पाँच विषय हैं - सर्ग अर्थात् सृष्टि का विज्ञान, प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और पुनः सृष्टि, सृष्टि की आदि वंशावली अर्थात् किस मनु का अधिकार कब तक रहा तथा उस काल में कौन-कौन सी प्रमुख घटनाएँ हुईं और वंशानुचरित अर्थात् सूर्य और चन्द्रवंशी राजाओ का संक्षिप्त वर्णन। ये ही पुराण के पञ्च-लक्षण हैं -

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं ज्ञेयं पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।

भारतीय ज्ञान-परम्परा के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करने वाले छः आस्तिक दर्शन जिन्हें सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त के नाम से जाना जाता है। चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन को नास्तिक कोटि में रखा गया है। वेद के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करने के कारण ही इन्हें नास्तिक कहा गया है (नास्तिको वेदनिन्दकः)। यद्यपि भारतीय दर्शनों का यह विभाजन पर्याप्त नहीं है। यदि इसे अद्यतन किया जाये तो दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या निम्न रूप में परिगणित की जा सकती है - बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, वैशेषिक, न्याय, जैन, योग, व्याकरण दर्शन, चार्वाक, शैव सिद्धांत, काश्मीर शैव, अद्वैत वेदान्त, विशिष्टाद्वैत, वीर शैव, न्याय वैशेषिक, निम्बार्क वेदान्त, विशिष्टशैवाद्वैत, हठ योग, भक्ति दर्शन वल्लभ वेदान्त, द्वैताद्वैत, योगवासिष्ट, अचिंत्यभेदाभेद। सर्व दर्शन संग्रहकार माधवाचार्य ने भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या बारह मानी है। भारतीय ज्ञान-परम्परा में इन सभी दर्शन -प्रस्थानों की बड़ी महिमा रही है और इनके साहित्य का भण्डार भी उतना ही विपुल है। वास्तव में देखा जाए तो भारत में दर्शन की प्रस्थिति और भूमिका ज्ञान की अन्य विधाओं की तरह कोई एक विषयमूलक -ज्ञानव्यवस्था नहीं, अपितु ज्ञान का एक आत्मोन्मुख व्यापार है जो ज्ञान की अन्तर्वस्तु की ही अनुवीक्षा या फिर विमर्श करता है। यही कारण है कि दर्शन मूलगामी रूप से विश्वदृष्टि के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्यों के उद्घाटन में फलित होता है जो विभिन्न विद्यास्थानों के आदेषों, परामर्षों, निर्धारणों, व्यावहार के विधि-निषेध परक नियमों, आदर्षों एवं मूल्यों को प्रामाणिकता के साथ-साथ औचित्य प्रदान करता है। अपनी इसी भूमिका में दर्शन

भारतीय ज्ञान-परम्परा के सभी विद्यास्थानों के पुरुषार्थों को एक विश्वदृष्टि में आदर्श नियामक समायोजन भी करता है। इसीलिए भारतीय परम्परा में 'दर्शन को 'प्रदीपः सर्वविद्यानां' कहा गया है। नीति ग्रंथों में शुक्र नीति, विदुर नीति और कामंदक नीति का भारतीय ज्ञान-परम्परा में बड़ा आदर है। अंत में महाकाव्यों की परम्परा में रामायण, महाभारत, रामचरितमानस और अश्वघोष रचित बुद्धचरित महत्तवपूर्ण माने जाते हैं। ये महाकाव्य कथानक के माध्यम से एक सम्पूर्ण संसार और संसार में भारतीय जीवन-दृष्टि के आदर्शतम स्वरूप को चरितार्थ हुआ दिखाते हैं। वास्तव में इन महाकाव्यों को धर्ममय जीवन की जीवनगाथा कहा जाना अधिक उचित है। यद्यपि इन चारों महाकाव्यों की मूल-दृष्टि के प्रस्थान-भेद की अनदेखी नहीं की जा सकती, फिर भी माना जाता है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा का निचोड़ इन महाकाव्यों में मानव जीवन के समस्त अन्तर्दून्द्वों के साथ, उनका समाधान करते हुए प्रस्तुत किया गया है। महाकाव्यों की परम्परा में संस्कृत परम्परा के पंचमहाकाव्यों को भी भारतीय ज्ञान-परम्परा को उत्तर-समृद्धि प्रदान करने वाला माना जाता है। ये पंचमहाकाव्य हैं - कालिदास कृत 'रघुवंशम्' और 'कुमारसम्भवम्', भारवी कृत 'किरातार्जुनीयम्', माघ कृत 'षिषुपालवध' और श्रीहर्ष प्रणीत ''नैशधचरित''। भारतीय ज्ञान-परम्परा के इस विषाल वाङ्मयी संस्थान में जीवन और जगत् के परमार्थ से लेकर व्यवहार पर्यन्त समस्त प्रोरणाओं, अभीप्साओं और लोकजीवन के बहुविध रूपों एवं संस्थानों का समावेश किया गया है। परा और अपरा विद्या के रूप में सम्भवः ज्ञान के समस्त अनुषासनों का विकास इसके अन्तर्गत न्यूनाधिक रूप में सम्भव हुआ है। इनमें विविधता बहुत है, पक्ष और विपक्षों की भरमार है, फिर भी सबके सब निगमागमों के ही अर्थ विस्तार हैं। मनु ने भी कहा है - इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्। किसी भी ज्ञान-परम्परा का वैचारिक संस्थान उसके अन्तर्गत विकसित जिन विद्यास्थानों के संकुल से बनता है, उनमें एक लक्ष्योन्मुखी एकवाक्यता आवष्यक होती है। ऐसा होने से ही सभ्यता और संस्कृति में उनका अधिकतम विनियोग हो पाता है। इसी प्रक्रिया में ज्ञान-परम्पराएँ सभ्यता और संस्कृति को सुगठित कर सौष्ठव प्रदान करती हैं। भारतीय ज्ञान-परम्परा के समस्त विद्यास्थानों की लक्ष्योन्मुखी एकवाक्यता ही उसके वैचारिक संस्थान की अत्युच्च विषेशता है। भारतीय ज्ञान-परम्परा के वाङ्मयी संस्थान की अद्भुत विषेशता यह है कि यह कोई स्थावर हो गई रूढ विचार-परम्परा नहीं बल्कि बहुविध प्रकार के व्याख्या

ग्रन्थों के माध्यम से उत्तरोत्तर अपना आलोचनात्मक परिष्कार और अपनी अर्थ-चेतना के विस्तार में सतत् संलग्न जीवन्त विचार-परम्परा है।

भारतीय ज्ञान परम्परा और उसकी व्याख्या पद्धति

भारतीय ज्ञान-परम्परा की एक महŸवपूर्ण विषेशता उसकी तंत्रबद्धता और प्रतितंत्र के प्रति सहिष्णुता रही है। यहाँ पर विभिन्न प्रकार के विद्या-स्थानों और बौद्धिक परम्पाओं का अस्तिŸव आरम्भ से ही रहा है जो अपने कुछ आधारभूत एवं मूलगामी मान्यताओं के साथ विकास के स्वकीय प्रारूप में उत्तरोत्तर विकसित होते रहे हैं। विकास की ऐसी बहुध्रुवीय लेकिन तंत्रकेन्द्रित गतिशीलता में भारतीय ज्ञान-परम्परा की विकासमानता ऊपर से प्रकट रूप में दिखाई नहीं पड़ती। इसी कारण कुछ लोग इसे स्थावर हो गई परम्परा मान बैठते हैं। वास्तविकता जबकि यह है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा में व्याख्याओं, पुनर्व्याख्याओं, यहाँ तक कि वैकल्पिक दृष्टियों के विकास की अन्तर्धारा युक्तिमत और अनवरत रूप से वर्द्धमान रही है। द्रष्टव्य है कि भारतीय पुराकथा में 'ब्रह्मा' आदि देव के नाम से प्रसिद्ध हैं और उन्हें ही समस्त प्रधान-भूत शास्त्रों, विद्या-स्थानों का आद्य शास्ता कहा जाता है। शास्ता का अर्थ शासनकार्य होता है। इसीलिए समस्त विद्याओं के मूल ग्रंथ शास्त्र अथवा शासन कहे जाते हैं। ब्रह्मा के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों के अतिविस्तीर्ण होने के कारण इन्हें तंत्र भी कहते हैं। उत्तरवर्ती ऋषि-मुनियों ने ब्रह्मोपदिष्ट शास्त्रों को ही संक्षिप्त और स्वकालोपयोगी बनाया है। भारतीय परम्परा में तत्तद शास्त्रों को तत्तद ऋषियों द्वारा प्रोक्त कहे जाने के पीछे यही आशय रहा है। प्रोक्त का लक्षण है- यत्तेन प्रोक्तं न च तेनकृतम्। अर्थात्, अन्य के द्वारा उपदिष्ट अथवा कृत का विषेश प्रवचन। ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट वाङ्मय (दिव्यं वर्ष सहस्रं प्रोवाच् न चान्तम जगाम्) शास्त्र, शासन और तंत्र नाम से अभिहित होने के कारण ही उत्तरकालिक ऋषि-मुनियों द्वारा प्रोक्त वाङ्मय को अनुषास्त्र, अनुषासन और अनुतंत्र कहा जाता है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा में अनुषास्त्रों का सूत्र, वृत्त, भाष्य, वार्तिक, टीका और प्रकरणादि ग्रन्थों के माध्यम से लोकविस्तरण को बड़े ही रोचक ढ़ंग से पराशरोपपुराण के 18 वें अध्याय में निरूपित किया गया है। इसमें अल्पाक्षर और असंदिग्ध पदों से युक्त सारवत् और विश्वतोमुख ज्ञान-राषि को सूत्र कहा गया है, जिसमें पुनरावृ त्त और क्रमभंग की संभावना नहीं रहती है। वास्तव में सूत्र अपने मूल स्वरूप में ज्ञान के घनीभूत रूप को धारण करने वाले अत्यन्त संशलिष्ट

शब्द-राषि हुआ करते हैं। सूत्रों की संशलिष्टता को भाषायी संक्षेपीकरण के अर्थ में नहीं समझा जा सकता, बल्कि किसी विचार को उसके मूल प्रत्यय में प्रत्यहृत करने के अर्थ में समझा जाना चाहिए। व्याकरण परम्परा में संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम और अधिकार नामक सूत्रों के प्रकारभेद स्वीकार किये गये हैं। आयुर्वेद परम्परा में डल्हण में सूत्रों के गुरुसूत्र, एकीयसूत्र, प्रतिसंस्कृत सूत्र इत्यादि के रूप में प्रकार भेद बताए हैं। इसीतरह न्याय परम्परा में उद्देष्य, लक्षण और परीक्षा नामक भेदों में सूत्रों को परिगणित किया गया है। श्री लक्षमीपुरम श्रीनिवासाचार्य ने श्रुतिप्रकाषिका नामक ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए उपदेषानात्मक, व्याख्यानात्मक और उपपादानात्मक नामक सूत्रों के तीन प्रकार बताए हैं। जब कोई शास्त्र परम्परा अपनी सम्पूर्ण वैचारिक योजना के साथ सूत्रसंहति में प्रस्तुत होती है तो वास्तव में वह विचार की अत्यन्त सघन संरचना हुआ करती है। इसलिए सूत्रों को बाद में उसके निहितार्थ को उद्घाटित करने के लिए व्याख्यायित करना पड़ता है। सूत्रों को व्याख्यायित करने के शड़तंत्रीय और पंचसूत्रीय व्याख्या पद्धतियाँ भारतीय ज्ञान-परम्परा में बहुत प्रसिद्ध रही हैं। इन्हीं व्याख्या पद्धतियों का विनियोग करते हुए सूत्रोपरिवृŸा नामक ग्रन्थ के द्वारा सूत्र के तात्पर्य को विस्तार और संक्षेप दोनों से बचते हुए उसके यथातथ को प्रकाषित किया जाता है। पुनः सूत्रों पर भाष्य लिखने की बड़ी समृद्ध परम्परा भारतीय ज्ञान-परम्परा में रही है। सूत्रानुसारी वाक्यों के द्वारा सूत्र के आशय को प्रकट करते हुए अपने वाक्यों का तात्पर्य भी जहाँ कहा जाता है उसे भाष्य कहते हैं। भाष्य के पश्चात् वार्तिक ग्रन्थ के माध्यम से किसी अनुषास्त्र का लोकविस्तरण अपने परम आलोचनात्मक स्वरूप को प्राप्त करता है। इसीलिए वार्तिककार वृŸा एवं भाष्य में उक्त, अनुक्त और दुरुक्त तीनों पक्षों की व्याख्या करते हुए शास्त्र के तात्पर्य को उच्चस्तरीय आलोचनात्मकता के साथ निरूपित करता है। भारतीय ज्ञान-परम्परा में अनुषास्त्रों का अवान्तर लोकविस्तरण संग्रह एवं अन्याय प्रकार की टीका एवं प्रकरण ग्रन्थों के माध्यम से सतत् प्रवर्द्धमान रही है। अतः यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि भारतीय ज्ञान-परम्परा संग्रहालय में पड़ी कोई पुरानी वस्तु नहीं जिसे केवल संरक्षित ही किया जा सकता है, बल्कि यह उत्तरोत्तर आलोचनात्मक होती हुई विचारों की एक जीवन्त परम्परा है जिसमें अतीत वर्तमान की प्रतीक व्यवस्था में अपने को समायोजित करता जाता है। इसीलिए भारतीय ज्ञान-परम्परा की इतिहास दृष्टि इतिहास की आधुनिक अवधारणा से सर्वथा भिन्न रही है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा में सभी विद्या-स्थानों की लक्ष्योन्मुखी एकता

भारतीय ज्ञान-परम्परा में किसी भी विद्या का मूल्य स्वरूपतः उतना नहीं है, जितना ब्रह्मविद्या का अंश होने के नाते है। इसीलिए प्राचीन प्रधान विज्ञानों का नाम 'उपवेद' रखा गया, जिससे स्पष्ट होता है कि वेदमूलक होने से ही उनका मूल्य है, न कि स्वतंत्र होने से। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद आदि को इसी कोटि में रखा जा सकता है। यही बात कलाओं के ऊपर भी लागू होती है, क्योंकि कला प्रतीकों का आधार है एवं ध्यान आदि का आश्रय प्रतीक होता है। कलाओं के नियमादि भी अन्य विद्याओं के नियमों की भाँति प्रकृति के आधारभूत धर्म के आभास हैं। इस प्रकार सनातनी विद्याओं-विज्ञानों के साथ सनातनी कलाएँ भी हैं। मध्यकालीन शिल्प -कला सनातनी कलाओं का एक अनुपम नमूना है, क्योंकि इस कला में शिल्प - सम्बन्धी प्रत्येक विद्या या विज्ञान का स्पष्ट संकेत है। दुर्भाग्य से आधुनिक पाष्चात्यों को इनका कोई ज्ञान नहीं है।

प्राकृतिक विज्ञान, या फिर अपरा विधाएँ अपने-अपने क्षेत्र में अवष्य उपयोगी हैं, जब तक वह अपने स्थान में स्थित रहे होते हैं। यह सुगमता से समझ में आ सकता है कि जो कोई व्यक्ति ज्ञान की उच्च भूमिका पर पहुँच चुका है, उसके लिए निम्न श्रेणी के साधारण विज्ञानों का विषेश मूल्य नहीं रहता। यह भी कहा जा सकता है कि वास्तविक विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या के इच्छुक व्यक्ति के लिए विज्ञानों का मूल्य वहीं तक है, जहाँ तक उनका ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध है, अर्थात् जब तक वे अपने-अपने क्षेत्र में तत्व दृष्टि रखते हैं एवं जिज्ञासुओं के लिए ब्रह्मविद्या की प्राप्ति का मार्ग बन सकते हैं। इस प्रकार, परम्परागत विज्ञानों के दो परस्पर सहकारी कार्य हैं, प्रथम तो तत्व-विद्या के अंश एवं विषेश अंग होने से संसार के समस्त क्षेत्रों की आधारभूत एकता इनके द्वारा प्रकट होती है। इनका दूसरा कार्य यह है कि विषेश व्यक्तियों के लिए उनकी मानसिक शक्ति एवं अधिकार, समय, स्थान आदि के अनुसार ये विज्ञान ब्रह्मविद्या की ओर ले जाने वाले मार्ग बन सकते हैं। वे ऐसी सीढ़ियों का काम देते हैं, जिनके द्वारा बुद्धि क्रमषः जड़ संसार को छोड़कर ब्रह्मविद्या की ओर अग्रसर हो सकती है। इसलिए भारतीय ज्ञान-परम्परा में ज्ञान के समस्त अनुषासनों की प्रयोजनीयता ब्रह्मविद्या के अनुषंगी होने में है और ब्रह्मविद्या की फलश्रुति ''आत्मज्ञान'' है। यही कारण है कि भारत में ज्ञानी होने का मतलब आत्मज्ञानी होना है।

जब विद्या के किसी रूप की स्थापना ऊपर से नीचे के क्रम में हुई हो, तब उसकी शिक्षा नीचे से ऊपर के क्रम में हो सकती है। इस प्रकार अनेक विद्याएँ एक तत्व के दर्शन में दृष्टान्त-रूप बन जाती हैं, जिनकी सहायता से विविध प्रकार की बुद्धियों को तत्व दर्शन करने में सुविधा हो। बहुविध प्रकृति के वश में रहते हुए मनुष्य की बुद्धि बहुत्व में लीन रहती है, इसलिए उसको एकत्व की ओर ले जाने के लिए बहुविध रूपों की सहायता लेनी पड़ती है। सर्वोच्च ज्ञान के मार्ग की प्रारम्भिक भूमिकाएँ अनेक प्रकार की हैं। परन्तु जीव लक्ष्य के जितना समीप पहुँचता है, विभिन्न मार्ग उतने ही अधिक एक-दूसरे में लीन होते जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिनमें भक्ति की सघनता होने के कारण ऐसे साधनों की आवष्यकता नहीं होती, उनको सीधे ही तत्व दर्शन का सौभाग्य मिल जाता है। परन्तु यह असाधारण बात है, साधारण जीवों को क्रमषः उन्नत अवस्था की ओर चलना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्यों ने भक्ति को परम कोटि का 'विज्ञान' माना है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वस्तुओं की तात्वक एकता के कारण जड़ वस्तु भी तत्व की प्रतिमा एवं तत्व दर्शन का आधार बन सकती है। यही बात प्रत्येक विद्या या विज्ञान के बारे में सत्य है। ज्योतिश विद्या और गणित विद्या का इसी प्रकार का उपयोग अनेक सम्प्रदायों ने परम्परा में किया है। इसी से प्राचीन ज्योतिश और गणित की गरिमा और महत्व को समझा जा सकता है। कोई भी विद्या, जो अपने सनातनी स्रोत से कटी नहीं है, आत्मविद्या की प्रतिमा बन सकती है।

भारतीय ज्ञान परम्परा की समवेत विश्वदृष्टि

भारतीय ज्ञान-परम्परा अपने स्वरूप में एक सावयवी विचार-परम्परा है। इसलिए भारतमूलीय ज्ञान की विभिन्न विधाओं, शाखाओं और विद्यास्थानों को एकबारगी एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा-समझा जा सकता है। सभी प्रकार के शास्त्र और विद्यायें एक समग्र विश्वदृष्टि की अनुशयी होकर ही भारतीय ज्ञान-परम्परा में अपनी-अपनी भूमिका और प्रस्थिति में फलवती होती हैं। अतः भारतीय ज्ञान-परम्परा समवेत रूप में जिस विश्वदृष्टि के साथ फलित होती है उसे समझे बिना भारतीय ज्ञान-परम्परा के स्वरूप और उसकी निज विषेशता को समझा नहीं जा सकता। भारतीय ज्ञान-परम्परा की विश्वदृष्टि का एक आधारभूत मौलिक पहलु यह है कि समस्त सृष्टि ही अपने आप में एक समग्र नैतिक-व्यवस्था है। सम्पूर्ण प्रकृति की गतिशीलता कोई अस्त-व्यस्त और बेमेल स्वच्छंदता नहीं बल्कि उसमें एक लय और

छंदबद्धता है। ऋत्, सत्य और यज्ञ की वैदिक अवधारणा के मूल में यही दृष्टि रही है। ऋत् ही विश्व-व्यवस्था का नियामक और धारक है। जड़, चेतन, स्थावर, जंगम, उद्भिज, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, देवता और तीनों भुवन, यहाँ तक कि ऋतुएँ भी ऋत् से ही अधिषासित होकर अपनी-अपनी प्रस्थिति और भूमिका में नियोजित हैं। धर्म के विधि-निषेध और नैतिक विधान भी ऋत् की सामाजिक स्तर पर अभिव्यक्ति है। भारतीय ज्ञान-परम्परा में मुनष्य के आचार और व्यवहार, सामाजिक सम्बन्ध और कर्तव्य न तो उसकी निरंकुश इच्छा पर निर्भर है, न ही कार्यकारणात्क प्रवृत्तियों से जनित हैं और न वे ऐतिहासिक संयोग से उत्पन्न हैं। आचार और व्यवहार के आदर्श प्रतिमान अन्ततः ऋत् में ही गोपित हैं जो मनुष्य के हृदय में प्रकाषित और शिष्ट परम्परा से सुनिष्चित होते हैं। इसीलिए 'ऋतम्भराप्रज्ञा' अर्थात् ऋत् को धारण करने वाली, उसके साथ प्रचोदनात्मक सम्बन्ध में रहने वाली प्रज्ञा को मानव-बुद्धि का आदर्ष माना गया है (धीयोयोनःप्रचोदयात्)। ऋग्वेद के सर्वाधिक निगुढ़ मंत्र 'गायत्री' का निहितार्थ भी यही है कि मनुष्य की बुद्धि ऋतानुगामी हो, ऋत् और मानवीय बुद्धि में प्रेरक-प्रेर्य भाव हो। इसी विश्वदृष्टि को ध्यान में रखते हुए आर्ष संस्कृति का जीवनादर्ष 'देवो भूत्वा देवं यजेत' के रूप में निरूपित हुआ है। मनुष्य द्वारा देवयजन का उद्देष्य देव बनना है, क्योंकि देवता ऋत् का उल्लंघन नहीं करते, जबकि साधारण चेतना के धरातल पर मनुष्य ऋत् का उल्लंघन भी करता है। अनेकों वैदिक ऋचाओं में ऋत् के उल्लंघन से उत्पन्न पाप के लिए वरुण देव से क्षमा-याचना करते हुए मनुष्य को देखा जा सकता है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा की विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि का स्वामी नहीं अपितु न्यासी माना जाता। मनुष्य भी चराचर में तमाम जीवित प्राणियों के बीच महज एक प्राणी ही है। इसलिए यह मानव-केन्द्रित (एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक) नहीं अपितु चराचर-केन्द्रित विश्वदृष्टि है। इस विश्वदृष्टि में मनुष्य की अवधारणा 'प्रकृतिजयी' रूप में अवधारित न होकर 'आत्मजयी' रूप में साकार हुई है। इसके विपरीत यूरोपीय विश्वदृष्टि में बाईबिल (गौड हैज क्रियेटिड मैन इन इट्स मिनी इमेज टू रूल ओवर अर्थ...) से लेकर विज्ञान (प्रकृतिजयी मनुष्य) तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व को बनाए रखा गया है। यही वह अन्तर है जिसके चलते इतिहास की भारतीय दृष्टि मानव और मानवीय अतीत की अवधारणा के घेरे में बन्धी नहीं रह जाती, बल्कि समस्त चराचर के अतीत से जुड़ जाती है। आष्चर्य है कि यूरोप द्वारा विकसित विज्ञान जो माइण्ड एण्ड मैटर, मनुष्य और प्रकृति के अन्तहीन द्वैत पर आधारित है और यूरोप जिसे अपने गौरव की ललाभूत

उपलब्धि मानता है, वह आज तक इस विषाल, जीवन्त और रहस्यपूर्ण मानवेतर संसार से ‘‘आत्मीय सम्प्रेशण’’ की भाषा खोजने में असफल रही है। वस्तुतः मानवीय संसार का मानवेतर संसार से अलगाव-दुराव यूरोपीय सभ्यता का सबसे त्रासद आयाम रहा है, जिसने गोएटे को यह कहने के लिए विवश किया कि हर अलगाव-दुराव में विक्षिप्तता के बीज होते हैं और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उसे पनपने न दिया जाए। इस अलगाव-दुराव से यूरोपीय आत्मा की लहू-लुहान विक्षप्तता ही होल्डरीन और रिल्के की काव्य और कलाकृतियों में दिखाई पड़ती है।

इसके विपरीत भारतीय जीवन-दृष्टि को इस अलगाव-दुराव का सामना इसलिए नहीं करना पड़ा कि उसने मानवेतर संसार से कभी अपने मिथकीय सम्बन्धों को त्यागा नहीं। सचमुच उस जीवन-दृष्टि के लिए इस अलगाव-दुराव पर विष्वास करना ही मुष्किल है जिसमें जीवन के एक रूप से दूसरे रूप के बीच पुनर्जन्मों और कायान्तरों की एक अटूट श्रृंखला है और जहाँ हर जीव के भीतर दूसरे के रहस्योद्घाटन की कुंजी छिपी हुई है। भारतीय दर्षन, धर्म और नीति इत्यादि के द्वारा मनुष्य और प्रकृति, मानवीय और मानवेतर संसार के बीच के सम्बन्धों के रहस्यों को खोलने के बहुविध प्रयास किए एक हैं। ‘‘देवो भूत्वा देवं यजेत्’’ से लेकर ‘‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’’ के आदर्ष में यही भाव गहरे में प्रतिध्वनित होता है। प्रत्येक भारतीय के लिए अपने जीवन में ऋणत्रय (पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण) को चुकाना और प्रतिदिन प´च महायज्ञों (भूतयज्ञ, नृयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ) का कर्तव्य विधान मानवीय संसार और मानवेतर संसार के मध्य आत्मीय सम्बन्ध बनाए रखने का ही विधान है। इस भारतीय दृष्टि का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए उचित ही कहा गया है कि ‘‘प्रकृति रहस्यपूर्ण है, जैसा कि हर अन्य सत्ता होती है, लेकिन उससे आतंकित होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि वह मनुष्य का एक अंश भी है - मानवीय प्रकृति, उसका स्व-स्वभाव।’’ वास्तव में देखा जाए तो यूरोप ने सर्वप्रथम प्रकृति को ही ‘‘अन्य’’ के रूप में देखा है और इसी कारण वहाँ एक ऐसे विज्ञान का विकास हुआ जिसका लक्ष्य प्रकृति को समझना नहीं, बल्कि प्रकृति को इस तरह समझना है ताकि उसे मनुष्य की देह-वासना के हित में बदला जा सके। अन्यथा प्रकृति की आत्मीय समझ के आधार पर किसी भिन्न प्रकार के विज्ञान की भी कल्पना की जा सकती है। ऐतरेय उपनिशद् में मनुष्य और प्रकृति, बाह्य और आन्तर की स्वभावगत एकता को ही तो यह कहते हुए प्रतिध्वनित किया गया है कि - अग्निर्वाग भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणोभूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यष्चक्षुशी भूत्वाक्षिणी प्रविशत्।

दिषः श्रोतं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्। औशधिवनस्पतयो भूत्वा त्वचं प्राविशन्। चन्द्रमा मनोभूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्। आपो रेतोभूत्वा षिष्नं प्राविशत्।

भागवत पुराण में भी इस चराचर सृष्टि के अविरोध को उद्घाटित करते हुए कहा गया है कि - अहस्तानि सहस्तानां अपदानि च चतुष्पदां, फल्गुनि तत्र महतां, जीवो जीवस्य जीवनम्।

लेविस्त्रास ने भारतीय परम्परा के ऐसे ही मिथकीय स्रोतों को पूर्वी संस्कृतियों के सम्पर्क सूत्र (एंकर प्वायंट्स ऑफ ईस्टर्न कल्चर) कहा है। इसे पष्चिमी मन का अहंकार कहा जाए या दम्भ कि वह पौर्वात्य अनुभव के सहयोग से अपने परिष्कार के लिए कभी तैयार नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय और यूरोपीय सभ्यता की तुलना करते हुए उचित ही कहा है कि एषिया की सम्पूर्ण सभ्यता का विकास प्रथमतः बड़ी नदियों के समीप के मैदानों और उपजाऊ भूमियों में - गंगा यांगसीकियांग और यूफ्रेटिज निदियों के कछारों में हुआ। इन सभ्यताओं का मूल आधार कृषिकर्म ही है, और इन सब में दैवी प्रकृति की प्रधानता है। एतद्विपरीत, अधिकांश यूरोपीय सभ्यता का उद्भव पर्वत-प्रदेषों या समुद्र-तटों में हुआ है - जल और स्थल में लूटमार ही इस सभ्यता का आधार है, उसमें आसुरी प्रकृति की प्रधानता है। अतएव यूरोपीय सभ्यता की तुलना उस वस्त्रखण्ड से की जा सकती है, जो इन उपादानों से बना है - उसे बुनने का ''करघा'' समुद्रतट का विस्तृत समशीतोष्ण पहाड़ी प्रदेश है; उसकी ''रुई'' विभिन्न जातियों की वर्णसंकरता से उत्पन्न प्रबल युद्धप्रिय जाति है; उसका ''ताना'' अपने शरीर और अपने धर्म की रक्षा के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध है... और उसका ''बाना'' वाणिज्य है। उस सभ्यता का साधन तलवार है; उसके सहायक - साहस और शक्ति; और उसक उद्देष्य ऐहिक और पारलौकिक सुखोपभोग है। इसके विपरीत आर्य-सभ्यता रूपी वस्त्र का ''करघा'' विस्तृत गरम, समधरातल प्रदेश है, जिसमें स्थान-स्थान पर चौड़ी, जहाज चलने लायक निदियाँ प्रवाहित हो रही हैं। इस वस्त्र की ''रुई'' है अतिसभ्य, अर्द्धसभ्य और जंगली जातियाँ, जिनमें अधिकांश आर्य हैं। उसका ''ताना'' है वर्णाश्रम-धर्म और उसका ''बाना'' है प्रकृतिगत कलह और प्रतियोगिता पर विजय-प्राप्ति। यूरोप निवासियों का उद्देष्य है अपने जीने के लिए अन्य सबका अन्त कर देना, और आर्यों का उद्देष्य है सभी को ऊपर उठाकर अपने समकक्ष बनाना; यही नहीं; बल्कि अपने से भी ऊँचे स्तर पर पहुँचाना।

उपसंहार

इस प्रकार भारतीय ज्ञान-परम्परा और उसकी समवेत विश्वदृष्टि की रूपरेखा का उपसंहार करते हुए कहा जा सकता है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा का विनियोग एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति में हुआ है जिसके लिए उन सभी मानव प्रवृŸायों (ईर्ष्या, द्वेश, काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद-मत्सरादि) से भी मुक्तिकाम्य है जिन्हें आधुनिक सभ्यता और सामजिक डार्विनवाद न्यूनाधिक रूप से मानव-स्वभाव अथवा मनुष्य का सत्य समझती है। आधुनिक सभ्यता जो आज विश्वसभ्यता का रूप धारण करती जा रही है वह मानव-सत्य के ऐसे ही दृष्टिकोण पर टिकी हुई दुनिया की तमाम सभ्यताओं में अग्रगण्य है तथा भारतीय सभ्यता और संस्कृति आज इसी 'ऐन्द्रिक सभ्यता' की ज्ञानमीमांसा को अपने ऊपर उत्तरोत्तर आरोपित करती जा रही है। इसके बावजूद भी भारतीय ज्ञान-परम्परा की दीप्ति अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है और भारतीय संस्कृति की मूल्य चेतना से उसकी संलग्नता अभी भी प्राणवंत है। ऐसा भी नहीं कि इसके अभिव्यक्ति पक्ष में समय-समय पर विकार उत्पन्न न हुए हों, जैसा कि किसी भी ज्ञान-परम्परा के गतिशील जीवन में स्वाभाविक ही होता है। परन्तु भारतीय ज्ञान-परम्परा में अपने विकारों के परिमार्जन की आत्मचेतना सदैव प्रज्ज्वलित रही है। अपने अभिव्यक्ति पक्ष में आक्षिप्त हुए विकारों को अपना स्वरूप समझने की भूल भारतीय ज्ञान-परम्परा ने कभी नहीं की है। मूलगामी रूप से भारतीय ज्ञान-परम्परा का जिस सभ्यता और संस्कृति में विनियोग हुआ है और जिसे हम भारतीय सभ्यता और संस्कृति कहते हैं उसका भौगोलिक परिक्षेत्र भोग-भूमि नहीं अपितु योग-भूमि है। वह सभ्यता ज्ञानकेन्द्रित है, संस्कृति मूल्याधारित है, समाज धर्म केन्द्रित/ कर्तव्य केन्द्रित है और वह समवेत रूप से चैतन्य की एकात्मता से आपूरित है।

संदर्भ : -

- कपूर, कपिल (अनु. 2017). भारतवर्ष : दी इण्डिया नैरेटिव, पं. मधुसूदन ओझा, अंग्रेजी अनुवाद, विल्सनजॉन, रूपा पब्लिकेशन. पृ0 344.
- (केनोपनिषद्, खण्ड 4, 6)

- रंगनाथनंद, स्वामी (2000). भगवद् गीता का सार्वभौमिक संदेश: आधुनिक विचार और आधुनिक आवश्यकताओं के प्रकाश में गीता की व्याख्या. अद्वैत आश्रम बेलूर मठ.
- बोस, डीएम, सेन, एसएन & सुब्बारायप्पा, बीवी (1971). भारत में विज्ञान का संक्षिप्त इतिहास, भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी.
- डैनिनो, मिशेल (2011). भारतीय संस्कृति और भारत का भविष्य. डीके प्रिंटवर्ल्ड (प्रा) लिमिटेड.
- रंगनाथनंद, स्वामी. बदलते समाज के लिए शाश्वत मूल्य. भारतीय विद्या भवन.
- स्वामी विवेकानंद. मेरा भारत, सनातन भारत. रामकृष्ण मिशन.
- शर्मा, चंद्रधर (2000). भारतीय दर्शन का एक आलोचनात्मक सर्वेक्षण. मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन.